

---

प्रवचन नं. ११२    दिनाङ्क १९-१०-१९७८, गुरुवार  
आसोज कृष्ण ३,    वीर निर्वाण संवत् २५०४

---

(श्री समयसार जीव अधिकार की पूर्णता के ३२ कलश के बाद के पेरोग्राफ का प्रवचन है।)

समयसार, पहला जीव अधिकार। शब्द है जीव - अजीव अधिकार नाम से, परन्तु

वास्तव में यह जीव अधिकार है। जीव का वास्तविक स्वरूप क्या है? वह कहा। इस प्रकार इस समयसार ग्रन्थ में पहला जीव-अजीव अधिकार दो साथ लिये हैं और वैसे तो जीव अधिकार है। 'कलश टीका' में इसे जीव अधिकार लिया है। यह यहाँ के अजीव अधिकार है। अधिकार में टीकाकार ने पूर्वरंग स्थल कहा। संस्कृत में है न! मूल संस्कृत में 'आत्मख्यातिः पूर्वरंगः समाप्तः' संस्कृत में अन्तिम शब्द है।

जीव-अजीव अधिकार में जीव का पूर्वरंग स्थल, जीव का वास्तविक आनन्द पूर्णस्वरूप ज्ञायकभाव, वह वास्तविक जीव का स्वरूप, उसका यहाँ वर्णन किया है - टीकाकार ने ऐसा लिया है न रंगस्थल प्राप्त है। पूर्वरंग स्थल समाप्त! टीकाकार ने अमृतचन्द्राचार्य ने! यहाँ टीकाकार का यह आशय है कि इस ग्रन्थ का अलंकार से नाटक रूप से वर्णन किया है। नाटक में पहले रंगभूमि रची जाती है। देखा? यह रंग कहा न? पाठ में है न यहाँ संस्कृत पूर्वरंग, रंगभूमि रची जाती है। जमीन, जहाँ आगे नृत्य करना हो - ऐसी रंगभूमि / अखाड़ा कहते हैं न? 'वहाँ देखनेवाले, नायक और सभा होती है।' देखनेवाले नायक समकिति और सभा मिथ्यादृष्टि की होती है - इत्यादि। तीसरे नाटक करनेवाले होते हैं, जो अनेक स्वांग धारण करते हैं तथा शृंगारादि आठ रस का रूप वर्णन करते हैं। शृंगार (आदि) आठ रस है न, उनका वर्णन नाटक में आता है। वहाँ शृंगार, हास्य, रौद्र, करुणा, वीर, भयानक, विभत्स और अद्भुत - ये आठ रस हैं, वे लौकिक रस हैं।

बाकी तो उतारे हैं, बनारसीदास ने लोकोत्तर में उतारे हैं परन्तु यहाँ यह लौकिक में.. यहाँ शान्तरस सिद्ध करना है। शान्त.. शान्त.. शान्त.. वह अपेक्षा से लौकिक है, नाटक में उसका ही अधिकार है। नौवां शान्तरस, वह अलौकिक है। आहाहा! आत्मा का वीतरागभाव - ऐसा शान्तरस, वह अलौकिक है। जो शान्तस्वभाव, जो त्रिकाली भगवान आत्मा, जिनबिम्ब, शान्तबिम्ब, उसका आश्रय लेकर परिणमन में शान्त.. शान्त अकषाय स्वभाव वीतराग परिणमन, उसे यहाँ शान्तरस कहते हैं। वह शान्तरस, वह आनन्दरस, वह स्वरूपरस, वह अद्भुतरस - उसे फिर अनेक प्रकार से उतारा है। आहाहा! वह अलौकिक है। नाटक में उसका अधिकार नहीं है, नाटक के अधिकार में शान्तरस का अधिकार नहीं है।

नाटक होता है न? हमने छोटी उम्र में बहुत नाटक देखे हैं न। उसमें पहले नारद

आता है, नारद, नाटक में 'ब्रह्मा सुत मैं नारद कहाऊँ, जहाँ हो संप वहाँ दुसंप कराऊँ' - ऐसा आवे मुँह के सामने। पाटनीजी! नाटक भी देखे हैं बहुत सब। दुकान का धन्धा था, वह व्यापार करने-माल लेने जाते (थे), रात्रि में फुर्सत होती (तो) नाटक में जाते परन्तु उस समय वे वैराग्य के नाटक थे, हों! वह नारद आवे, ऐसा करके 'जहाँ दुसंप हो वहाँ संप कराऊँ' - ऐसा मैं नारद हूँ - ऐसा कहता है। यहाँ तो जहाँ संप होवे, उसका नाश कराकर शान्तरस प्रगट कराऊँ। आहाहा! ऐसा इसमें अधिकार है।

इन रसों का स्थायीभाव - यह रसों की व्याख्या है। सात्विक भाव, अनुभावी भाव, व्यभिचारी भाव और उनकी दृष्टि आदि का वर्णन रस ग्रन्थों में है, वहाँ से जान लेना। यहाँ उनका काम नहीं है।

सामान्यरूप से रस का यह स्वरूप है कि ज्ञान में जो ज्ञेय आया.. अब यह रस है - ज्ञान में जो ज्ञेय आया। भगवान ज्ञानस्वरूप है, उसमें जो कोई ज्ञेय आया - समुच्चय बात है। उसमें ज्ञान तदाकार हो जाए - उसमें पुरुष का भाव लीन हो जाए और अन्य (ज्ञेय की) इच्छा न रहे, वह रस है। यह समुच्चय की बात है - आठों ही रस की (बात है)। शृंगाररस आदि हों परन्तु जिस ज्ञान में यह आया और उसमें लीन हो गया और दूसरे भाव की इच्छा नहीं रही, उसका नाम यहाँ 'रस' कहा जाता है। उन आठ रसों का रूप नृत्य में नृत्यकार बतलाते हैं और उनका वर्णन करते हुए कवीश्वर जब अन्य रस को अन्य रस के समान कर भी वर्णन करते हैं, तब अन्य रस का अन्य रस अंगभूत होने से तथा अन्यभाव रसों का अंग होने से, रसवत् आदि अलंकार से उसे नृत्यरूप में वर्णन किया जाता है।

यहाँ पहले रंगभूमिस्थल कहा। वहाँ देखनेवाले तो सम्यग्दृष्टि पुरुष हैं। आहाहा! जीव और अजीव में, जीव का वास्तविक स्वरूप ज्ञाता-दृष्टा कहा। क्रमबद्ध में वह आया न? क्रमबद्ध, प्रत्येक जीव की पर्याय क्रमबद्ध है। जिस समय जो होता है, वह उस समय क्रमबद्ध (होता है), उसके क्रम में। अब, वहाँ भी क्रमबद्ध में अकर्तापने का वर्णन किया। अकर्ता-जो कुछ होता है, उस कार्य का कर्ता नहीं, तब उसका अर्थ यह हुआ कि ज्ञाता-दृष्टा हुआ। क्रमबद्ध की पर्याय में ज्ञाता-दृष्टा, क्योंकि वीतराग का कोई भी वाक्य है, उसका तात्पर्य तो वीतरागता है, तो क्रमबद्ध में तात्पर्य वीतरागता है। आहाहा! जहाँ क्रमबद्ध का

निर्णय होता है, वहाँ ज्ञाता-दृष्टा हो जाता है - ऐसी बात है और ज्ञाता-दृष्टा होने पर, जो शास्त्र का तात्पर्य वीतरागता है, वह वहाँ प्रगट होता है। आहाहा! और वह वीतरागता प्रगट हो, वह पहले से आ गया कि वह स्व त्रिकाली द्रव्य है, उसके आश्रय से होती है, इसलिए क्रमबद्ध के निर्णय में भी ज्ञाता का निर्णय होना, वह उसका तात्पर्य है। आहाहा! ऐसी बात है।

वह यहाँ कहते हैं, **देखनेवाले सम्यग्दृष्टि पुरुष हैं..** ज्ञाता-दृष्टा है - ऐसा कहते हैं। स्वांग अनेक प्रकार के आवें परन्तु देखनेवाले सम्यग्दृष्टि उन्हें जानने-देखनेवाले के रूप में देखते-जानते हैं। आहाहा! अजीव का रंग स्थल आये, कर्ताकर्म का आये, परन्तु उसमें उन्हें सब में से जानने-देखनेवाले ऐसे भाव को जानते हैं। सम्यग्दृष्टि चाहे जिस प्रसंग में हो; चाहे जैसे कर्ता-कर्म, अजीव आदि, आस्रव-बन्ध आदि काल में हो, वह स्वयं ज्ञाता-दृष्टारूप से सम्यग्दृष्टि उस स्वांग को जानता है। आहाहा! बन्ध के स्वांग को भी जानता है, मोक्ष के स्वांग को भी जानता है। आहाहा! देखनेवाला सम्यग्दृष्टि है। आहाहा! ओहोहो! **वहाँ सम्यग्दृष्टि पुरुष देखनेवाले हैं..** आहाहा! अर्थात् जो कुछ भी स्वान अजीव का हो, आस्रव का, बन्ध का, मोक्ष का हो, उसे तो धर्मी सम्यग्दृष्टि जीव.. रागादि का भाव आवे परन्तु सम्यग्दृष्टि जीव उसे देखनेवाला है। आहाहा! वह देखनेवाला है, वही वास्तव में नायक है। समझ में आया? पहले कहा था न? देखनेवाला नायक, है न पहले? और सभा है मिथ्यादृष्टि की, है? है न इसमें आ गया! यहाँ आ गया देखो न! **और अन्य मिथ्यादृष्टि पुरुषों की सभा है..** यहाँ सभा शब्द लिया था न पहला, उसका यहाँ स्पष्टीकरण कर दिया।

पहले था न? - देखनेवाला नायक और सभा होवे, दो बात। वह देखनेवाला सम्यग्दृष्टि - ऐसा यहाँ स्पष्टीकरण किया। भाई! हिम्मतभाई! देखनेवाला नायक और सभा। उसका यहाँ स्पष्टीकरण किया कि **देखनेवाले तो सम्यग्दृष्टि पुरुष हैं और अन्य मिथ्यादृष्टि पुरुषों की सभा है,** आहाहा! उनको दिखलाते हैं। आहाहा! सम्यग्दृष्टि वास्तविक स्वांग के देखनेवाले हैं और मिथ्यादृष्टि की सभा है, उसे बतलाते हैं। आहाहा! इसलिए लिया था न (कि) अप्रतिबुद्ध शिष्य को गुरु समझाते हैं। यहाँ सम्यग्दृष्टि जीव लिया है। शुरुआत से बात ली है। **नृत्य करनेवाले जीव-अजीव पदार्थ हैं..** जीव और अजीव दो, दो नृत्य करनेवाले, बदलनेवाले, परिणमन करनेवाले, अपनी-अपनी अवस्था

से वहाँ परिणमन करनेवाले वहाँ दो पदार्थ हैं। और दोनों का एकपना,... आहाहा! ऐसा स्वाँग आता है। जीव में भी राग और शरीर उनका इकट्ठा ऐसा स्वाँग आता है। कर्ताकर्मपना.. पर कार्य और जीव कर्ता; राग कार्य और जीव कर्ता - ऐसा स्वाँग आता है। आदि उनके स्वाङ्ग हैं। उनमें वे परस्पर अनेकरूप होते हैं.. आहाहा! आठ रसरूप होकर परिणमन करते हैं, सो वह नृत्य हैं। वहाँ सम्यग्दृष्टि दर्शक जीव-अजीव के भिन्न स्वरूप को जानता है;... यहाँ यह बात है। आहाहा! भले कहे कि कर्ता-कर्म का स्वाँग आवे.. राग कार्य और आत्मा कर्ता - ऐसा स्वाँग आता है; जीव के साथ राग का - अजीव के सम्बन्ध का स्वाँग आवे। आहाहा! दोनों को पृथक् जानता है। आहाहा! धर्मी जीव, सम्यग्दृष्टि जीव.. आहाहा! भिन्न स्वरूप को जानता है, यहाँ वजन यहाँ है। सम्यग्दृष्टि को राग भी आता है, आस्रव भी आता है परन्तु उस स्वाँग को आत्मा से भिन्न जानता है। आहाहा! समझ में आया ?

वह तो इन सब स्वाङ्गों को कर्मकृत जानकर.. अजीवपना अन्दर यह दिखाई दे, राग दिखाई दे, वह सब, कर्मकृत जानकर शान्तरस में ही मग्न है.. आहाहा! चाहे तो जीव में राग आवे, द्वेष आवे, विषय की वासना आवे, दया-दान का विकल्प आवे। आहाहा! उसे सम्यग्दृष्टि जीव, शान्तरस में रहकर जानता है। आहाहा! गजब! नाटक की उपमा से कहा न! रंगभूमि स्थल कहा! आहाहा! इन सब स्वाङ्गों को कर्मकृत जानकर शान्तरस में ही मग्न है.. आहाहा! रागादि, दया, दान, और काम-क्रोध के विकल्प आवे परन्तु वह सब कर्मकृत स्वाङ्ग है; मेरा स्वाङ्ग नहीं। आहाहा! मैं तो ज्ञायकस्वरूप हूँ—ऐसी एकाग्रता में शान्तरस में रहकर, कर्मकृत भावों को जानता है। आहाहा! ऐसी बात है। अजब बात है।

जहाँ हो राग और द्वेष के भाव, ऐसे स्वाङ्ग को भी समकित्ती.. आहाहा! कर्मकृत जानकर.. राग को वह कर्मकृत है ऐसा जानकर.. परन्तु रहता किसमें है? वह अपने श्रद्धा, ज्ञान, और शान्ति में (रहता है)। आहाहा! ऐसी बात है। सब स्वाङ्गों को कर्मकृत जानकर शान्तरस में ही मग्न है.. भगवान आत्मा आनन्द और शान्तरस का पिण्ड प्रभु, अकेला ज्ञायक और आनन्द—ऐसा भगवान आत्मा अतीन्द्रिय आनन्द, उसकी जिसे सम्यक् प्रतीति, अनुभव में भान हुआ, वह जीव तो रागादि आवे, कर्मकृत आवे, अजीव का संयोग दिखाई दे.. यह राग भी वास्तव में तो अजीव है। आत्मा का स्वरूप वर्णन किया,

अब वर्णन करेंगे कि यह इसमें नहीं है, यह इसमें नहीं है, अजीव नहीं, राग नहीं, शरीर नहीं, वाणी नहीं, गुणस्थान नहीं, मार्गणास्थान नहीं - ऐसे इस अजीव का वर्णन, 'जीव में यह नहीं' - ऐसा करके इसका वर्णन करेंगे। आहाहा!

पहले जीव का वर्णन करते हुए ऐसा कहा कि भगवान आत्मा ज्ञायक है, आनन्द है, शान्त है, वीतराग है - ऐसा उसका स्वरूप है। ऐसा कहकर जीव की विधि से बात की, अब निषेध से (बात) करेंगे कि भगवान आत्मा में राग नहीं, मार्गणास्थान नहीं, गुणस्थान नहीं, विकारी इसके स्वरूप में नहीं - आहाहा! ऐसा जीवस्वरूप भगवान आत्मा में यह नहीं - ऐसा वर्णन करके इनका निषेध करेंगे। आहाहा!

**मिथ्यादृष्टि जीव,..** मिथ्यादृष्टि जीव-अजीव का भेद नहीं जानते, शरीर जड़ है, अन्दर दया, दान का राग आवे, हिंसा-झूठ-विषय का राग आवे, वह वास्तव में तो अचेतन जड़ है। आहाहा! ऐसा मिथ्यादृष्टि नहीं जानता। वह तो ऐसा जानता है कि यह राग मेरा है, पुण्य का भाव मेरा है, शरीर मेरा है; इस प्रकार मिथ्यादृष्टि, जीव और अजीव का भेद नहीं जानता। दोनों को अभेदरूप मानता है। आहाहा! ऐसी बहुत कठिन बातें।

धर्म ऐसी चीज सूक्ष्म है कि जहाँ आत्मा ज्ञायकस्वरूप, ऐसा जहाँ भान हुआ। फिर उसे पर्याय में रागादि आवे, अजीव का संयोग-चक्रवर्ती के पद जैसा भी आवे, आहा! परन्तु इन सबको अपने ज्ञानस्वभाव में रहकर, अर्थात् शान्तरस में रहकर जानता है। आहाहा! **मिथ्यादृष्टि, जीव-अजीव के भेद नहीं जानते,..** आहाहा! अज्ञानी, ज्ञायकभाव में राग है, वह मेरा है - ऐसा अज्ञानी मानता है। यह आ गया है न अपने? वह भावक का भाव है। आहाहा! स्वभाव का वह भाव नहीं है। पर्याय में होता है परन्तु वह स्वभावभाव नहीं है, आहाहा! शुभ-अशुभराग, वह कर्मकृत है - ऐसा यहाँ आया न? वहाँ भावक का भाव है - ऐसा आया था। इस प्रकार धर्मी जीव ऐसा जानता है कि मेरा स्वभाव तो जाननहार शान्तरस में रहना वह है; ये रागादि भाव, अजीव हैं; ये मेरी चीज नहीं। मिथ्यादृष्टि इन अजीवकृत भावों को अपना मानकर, मिथ्यादृष्टिपने के अशान्तस्वभाव को सेवन करता है। आहाहा!

इसलिए वे इन स्वाङ्गों को ही यथार्थ जानकर उनमें लीन हो जाते हैं। भगवान

आत्मा ज्ञायक चैतन्यज्योति स्वरूप प्रभु में राग और पुण्य-पाप आदि के भाव आने पर, (उन्हें) अज्ञानी मेरा है - ऐसा उनमें लीन हो जाता है। इतना अन्तर है। आहा! अज्ञानी को यह विषय-वासना मेरी है और मुझे मजा आता है - ऐसा अज्ञानी मानता है। आहा! ज्ञानी को वह राग आवे, उसे पृथक् जानकर, ज्ञान का मेरा स्वरूप भिन्न पृथक् है - ऐसा ज्ञान में रहकर उसे जानता है। अज्ञानी राग में रहकर, राग मेरा है - ऐसा जानता है। आहाहा! ऐसा है। धर्म का स्वरूप बहुत सूक्ष्म, बापू! आहाहा! यहाँ तो सम्यग्दृष्टि और मिथ्यादृष्टि दोनों का अन्तर बतलाया है।

सम्यग्दृष्टि जीव अपने स्वरूप को, जानन-देखन आनन्दस्वरूप जानता हुआ, अपनी शान्ति की पर्याय में रहता है। अज्ञानी, इन रागादि को 'मेरा स्वाँग है, मेरा स्वरूप है' - ऐसा मानकर मिथ्यादृष्टि के आकुलता के अशान्तभाव में वह रहता है। उसे रागादि, पुण्यादि, शरीरादि का स्वाँग, वह अजीव है और वह भगवान आत्मा का परिवेश नहीं, उसका वह वेष नहीं। आहाहा! ऐसा ज्ञानी जानता हुआ, अज्ञानी को यह बतलाता है। **उन्हें सम्यग्दृष्टि यथार्थ स्वरूप बतलाकर,..** देखा? यहाँ तो सम्यग्दृष्टि से ही बात शुरू की है। आहाहा!

जो कोई आत्मा में अतीन्द्रिय आनन्द और अतीन्द्रिय ज्ञानादि गुण का पिण्ड प्रभु, उसमें जिसका अपना स्वरूप है - ऐसा अनुभव किया है और रागादिभाव, वे मेरे स्वरूप में नहीं है - ऐसा जो धर्मी सम्यग्दृष्टि ने जाना है, वह स्वयं पर को जानता हुआ, अपने में रहता हुआ शान्तरस में रहता है। अज्ञानी उन स्वाँग को अपना मानकर मिथ्यादृष्टि (था), इसलिए अशान्ति में रहता है, आहाहा! **उन्हें सम्यग्दृष्टि यथार्थ स्वरूप बतलाकर उनका भ्रम मिटाकर..** आहाहा!

**श्रोता :** सम्यग्दृष्टि से भ्रम जाता है ?

**पूज्य गुरुदेवश्री :** यह तो ऐसी शैली ली है। उसे बतानेवाला कौन ? कि यह, ऐसा। आहाहा! अज्ञानी, जो राग और अजीव-शरीर, कर्म आदि आत्मा के-चैतन्य के स्वाँग मानता है, उसे ज्ञानी समझाता है, भाई! तेरा स्वाँग यह नहीं; तेरा स्वाँग तो आनन्द और शान्ति प्रगटे, वह तेरा स्वाँग है। आहाहा! राग और पुण्य के परिणाम तथा शरीर और कर्म का योग, यह सब तेरा स्वरूप नहीं है, यह तुझमें नहीं है, तू इनमें नहीं है। आहाहा! यह

तो अन्दर की धीर बातें हैं भाई! उन्हें सम्यग्दृष्टि यथार्थ स्वरूप बतलाकर, उनका भ्रम मिटाकर, उन्हें शान्तरस में लीन करके... आहाहा! ३८ गाथा में यह आया न? अज्ञानी था, उसे गुरु ने समझाया, तब वह समझ गया और सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र हुआ, सम्यग्दृष्टि (हुआ)। आहाहा!

उसकी सूचनारूप में रङ्गभूमि के अन्त में आचार्य ने 'मज्जंतु' इत्यादि इस श्लोक की रचना की है,.. आहाहा! सम्यग्दृष्टि बतलाता है, तब कहता है कि अरे जीवों! ऐसा जो आनन्द का सागर भगवान, वहाँ जाकर, वहाँ रम न! वहाँ अन्दर में आ जा। सर्व जीवों आ जाओ न प्रभु! ऐसा कहते हैं। भले वहाँ टीका में भव्य लिये हैं, अध्यात्मतरंगिणी में भव्य लिये हैं, समस्त जीवों में। आहाहा! यह आत्मा अतीन्द्रिय आनन्द का सागर प्रभु, अतीन्द्रिय आनन्द का नाथ, अतीन्द्रिय शान्तस्वरूप, वहाँ सर्व जीवों अन्दर आ जाओ न! ऐसा कहते हैं। आहाहा! देखो! यह अधिकार पूर्ण का अधिकार यह। जीव के अधिकार की पूर्णता और दूसरे को समझा करके ही उसे जीव का पूर्ण अधिकार हुआ, तब यह अधिकार समाप्त होता है। आहाहा! समझ में आया?

जीव का अधिकार अर्थात्, यह राग और पुण्य और शरीर यह इसका अधिकार नहीं, यह उनका स्वामी नहीं, वे इसके अधिकार में नहीं, आहाहा! इसके अधिकार में तो ज्ञान-दर्शन, आनन्द और शान्ति, वह इसके अधिकार में है। आहाहा! यह अधिकार जो समझते नहीं! जीव का जो स्वरूप का अधिकार है, उसे वे जानते नहीं और अधिकार बाहर के भाव को वह अपने जीव के अधिकार में मानते हैं, आहाहा! उनसे सम्यग्दृष्टि कहता है, भगवन्त! तेरा स्वाँग, यह राग और पुण्य और शरीर, यह तेरा स्वाँग नहीं। आहाहा! तू तो जाननस्वभावी, आनन्दस्वभावी, इसकी पर्याय में भी जानना और शान्तरस आवे, वह तेरा स्वरूप है। आहाहा! ऐसा कहकर, वह समझ जाता है। ऐसा कहते हैं यहाँ तो। ३८ में भी - यह लिया न? आहाहा!

लीन करके.. देखा? उन्हें लीन कर डालता है। करता है अर्थात् क्या? लीन होते हैं। आहाहा! गजब मार्ग भाई! धर्म, वह कहीं दया, दान, व्रत के परिणाम वे कहीं धर्म नहीं है।

श्रोता : यह कहाँ लिखा है?



**पूज्य गुरुदेवश्री :** यह इसमें, यह लिखा है न अजीव । वह अजीव का स्वाँग है, यह अब कहेंगे । आहाहा ! भगवान आत्मा के स्वाँग में – ज्ञायकस्वरूप में वह नहीं आता ।

**श्रोता :** पर्याय में आवे न ?

**पूज्य गुरुदेवश्री :** पर्याय में स्वाँग, वह इसका नहीं; द्रव्य का स्वभाव जिसने जाना, उसने मेरी पर्याय में राग स्वाँग, वह भी मेरा स्वाँग ( है ऐसा ) नहीं । आहाहा !

**उन्हें शान्तरस में लीन करके..** आहाहा ! उन्हें उपदेश दिया इस अपेक्षा से । वैसे वरना लीन तो वह स्वयं होता है । भाषा तो ऐसी ( आवे न ) ! शान्तरस में उन्हें लीन करके, शान्तरस में उन्हें लीन करके **सम्यग्दृष्टि बनाता है** । भाषा ऐसी है न ? निमित्त से कथन है । आहाहा ! अर्थात् कि जो आत्मा आनन्द का नाथ प्रभु, ऐसा जिसने बताया, वह जाननेवाला आनन्द के नाथ में अन्दर समा जाता है । राग से हटकर स्वरूप में आ जाता है, उसे समकिति ने बतलाया था, इसलिए उसे समकिति बनाया, उसने लीन किया । आहाहा ! समझ में आया ? बातें ऐसी हैं । भाई !

**‘मज्जंतु’ इत्यादि इस श्लोक ( की रचना की है,.. )** अरे भगवन्त ! चैतन्यस्वरूप आत्मा शुद्ध चैतन्य जहाँ जागृत हुआ तो कहते हैं कि हे जीवों ! तुम वहाँ आकर नहाओ न, स्नान करो न ! अन्दर डुबकी लगाओ न ! आहाहा ! भगवान आत्मा आनन्द का नाथ प्रभु, आहाहा ! जगत के जीवों को सम्यग्दृष्टि कहता है,.. यहाँ आचार्य कहते थे परन्तु यहाँ इतना लिया है कि पुण्य और पाप के भाव और अजीव के प्रेम में पड़ा प्रभु तू, वह तेरा स्वरूप नहीं है, वह तो दुःख का स्वरूप है, वह तो अजीव का स्वरूप है । आहाहा ! इस ओर भगवान आनन्द का नाथ, उस अतीन्द्रिय आनन्द का ज्ञान करके वहाँ स्थिर हो न ! राग में स्थिरता छोड़ दे न प्रभु ! आहाहा ! इस प्रकार सम्यग्दृष्टि दूसरे को इस तरह बोध देकर लीन करता है । ऐसा कहते हैं न ? सम्यग्दृष्टि बनाता है । आहाहा ! वह बना तो इसे बनाता है— ऐसा कहने में आता है । आहाहा !

इसमें क्या करना ? हाथ आवे नहीं, बाहर का कुछ करने का इसमें हाथ आवे नहीं, व्रत पालना या ‘ इच्छामि पडिक्कमणुं इरिया वहिया गमणा गमणे ’ यह तो सब विकल्प-राग है । आहाहा ! यह विकल्प है, यह ‘ इच्छामि अने तस्स ऊतरी ने लोगस्सनो ’ विकल्प करता है, वह राग है प्रभु ! तुझे पता नहीं । वह राग तेरी चैतन्य की जाति नहीं है, वह कुजात

है, अर्थात् वह अजीव है। आहाहा! उसमें से हट कर, चैतन्य भगवान ज्ञान और आनन्दस्वरूप है, वहाँ जा, तुझे शान्ति मिलेगी और अशान्ति टलेगी। आहाहा! ऐसा स्वरूप है। अनजाने लोगों को तो ऐसा लगता है कि यह क्या कहते हैं? यह धर्म की रीति, बापू! आहाहा! अलौकिक है अलौकिक! यहाँ तो कहते हैं न, बनाते हैं – ऐसी भाषा! आहाहा! उसकी सूचनारूप में रङ्गभूमि के अन्त में आचार्य ने 'मज्जंतु' इत्यादि इस श्लोक की रचना की है, वह अब जीव-अजीव के स्वाँग का वर्णन करेंगे, इसका सूचक है—ऐसा आशय प्रगट होता है। इस प्रकार यहाँ तक रंगभूमि का वर्णन किया है। रंगभूमि की पहली भूमि जीव का वर्णन किया। आहाहा!

नृत्य कुतूहल तत्त्व को, मरियवि देखो धाय ।  
निजानन्द रस में छको, आन सवै छिटकाय ॥

नृत्य के कौतूहल के राग-विकार आदि तत्त्वों को 'मरियवि'—महा कष्ट और पुरुषार्थ से भी देखो, मरकर भी देखो। राग को मार डालकर, पुरुषार्थ करो, पुरुषार्थ, कहते हैं। कौतूहल का नाच राग और विकार को ऐसे तत्त्वों को 'मरियवि'—मार डालकर देखो, नाश करके देखो। आहाहा! निजानन्द रस में छको,.. आत्मा निजानन्द प्रभु, सर्वज्ञ परमेश्वर जिनेश्वर ने कहा, वह यह आत्मा निजानन्द, निज आनन्दस्वरूप प्रभु, निजानन्द रस में छको, आहाहा! राग के रस को छोड़ दे प्रभु! आहाहा! उसे – राग को मार डाल। जीवते जीव को जीवता देख! आहाहा! चैतन्य जीवन से जीवित भगवान (आत्मा) को देखकर राग को मार डालकर देख। आहाहा! निजानन्द रस में छको, हे प्रभु! आत्मा! निजानन्द आत्मा में अतीन्द्रिय आनन्द है, उसमें छको, वहाँ खेल, क्रीड़ा कर। आहाहा! निजानन्दरस में छको.. संक्षिप्त भाषा! आहाहा! निजानन्द प्रभु अतीन्द्रिय आनन्द का सागर आत्मा। भगवान सन्त और ज्ञानी और समकिति और केवली सब यह कहते हैं। निजानन्द रस में छको। बहुत संक्षिप्त परन्तु बहुत ऊँचा परम सत्य है।

भगवान! राग और पुण्य-पाप के भाव यह दया, दान, व्रत, भक्ति के भाव भी राग है, वह दुःख है, आकुलता है। आहाहा! उस रस में तुझे रस आता है, (उसे) छोड़ दे। आहाहा! निजानन्द प्रभु आत्मा भगवान तीर्थकर सर्वज्ञदेव ने जो देखकर अनुभव करके

पूर्ण किया 'वह आत्मा तू' निजानन्द रस में स्वयं का रस ही साथ लिया है। शान्तरस - निजानन्द रस में छको अर्थात् शान्तरस में रहो, छको, आहाहा! उसमें भरपूर हो जाओ। आहाहा! छक जाओ। भाषा तो बहुत.. वस्तु तो वस्तु कोई दूसरी है बापू! भाषा में क्या.. आहाहा! 'निजानन्द रस में छको' लीन होओ। 'आन सवै छिटकाय' अन्य विकल्प आदि-दया, दान, राग आदि के विकल्पों को छोड़ दे। आहाहा! अन्य - दूसरा सब छिटकाय, 'आन सवै छिटकाय।' चाहे तो भगवान की भक्ति का राग हो, णमो अरिहंताणं का विकल्प हो परन्तु वह राग है प्रभु! आहाहा! उसे छोड़कर 'सर्व छोड़कर' निजानन्द रस में छक जाओ, उसमें लीन होओ। आहाहा! क्या संक्षिप्त भाषा!

इस प्रकार जीव-अजीव अधिकार में इन्होंने ऐसा लिया है, अकेला जीव अधिकार और अकेला अजीव, ऐसा नहीं। जीव-अजीव अधिकार दोनों ही स्वरूप इकट्ठे किये हैं।

पूर्वरंग समाप्त हुआ। पूर्वरंग जीव का रंग-स्वाँग पूर्ण किया।

---

#### कलश - ३३ पर प्रवचन

---

अब, जीव और अजीव द्रव्य - ये दोनों एक होकर अखाड़े में / रङ्गभूमि में प्रवेश करते हैं। वहाँ शुरुआत में मङ्गल के आशय से आचार्य, ज्ञान की महिमा करते हैं। ज्ञान की महिमा करते हैं। ज्ञान अर्थत् आत्मस्वभाव - ज्ञानस्वभाव की महिमा करते हैं। सर्व वस्तुओं को जाननेवाला यह ज्ञान है.. भगवान आत्मा का ज्ञान, स्व को जाने, द्रव्य को भी जाने, गुण को भी जाने, पर्याय को भी जाने, राग को भी जाने और भिन्न अजीव को भी जाने, यह जाननेवाला ज्ञान है, आहाहा! वह सर्व स्वाङ्गों को भलीभाँति पहिचानता है-ऐसा सभी स्वाङ्गों को जाननेवाला सम्यग्ज्ञान प्रगट होता है। वह कलश कहते हैं, लो!

( शार्दूलविक्रीडित )

जीवाजीवविवेकपुष्कलदृशा प्रत्याययत्पार्षदान्  
 आसंसारनिबद्धबंधनविधिध्वंसाद्विशुद्धं स्फुटत्।  
 आत्माराममनन्तधाम महसाध्यक्षेण नित्योदितं  
 धीरोदात्तमनाकुलं विलसति ज्ञानं मनो ह्लादयत् ॥३३॥

आहाहा! ज्ञान कैसा प्रगट होता है? कि आनन्द लेता प्रगट होता है। आनन्द और ज्ञान मुख्य दो वर्णन बतलाये हैं। आहाहा! ज्ञान अर्थात् जीव; शुद्ध जीवद्रव्य स्वरूप; वह मन को आनन्दरूप करता हुआ.. यहाँ ज्ञान कहा न! इसलिए करता हुआ - जीव को- आत्मस्वभाव को; मन को अर्थात् आत्मा को आनन्दरूप करता हुआ प्रगट होता है। आहाहा! ज्ञान तो उसे कहते हैं; और ज्ञान प्रगट होने पर साथ में उसे आनन्द होता है, उसे ज्ञान कहते हैं। आहा..हा..! ऐसी बड़ी शर्ते हैं।

मनो हादयत है न? मन को आनन्दरूप करता हुआ.. मन को अर्थात् मूल आत्मा को पर्याय में.. मन को आनन्दरूप करता हुआ, ज्ञानस्वरूप भगवान आत्मा प्रगट होता है। आहाहा! कैसा है वह? पार्षदान-जीव-अजीव के स्वाङ्ग को देखनेवाले.. पार्षदान है न? जीव-अजीव के स्वाङ्ग को देखनेवाले महापुरुषों.. पार्षदान की व्याख्या इतनी। पार्षदान अर्थात् महापुरुष, गणधरादि। है, उसमें गणधर अर्थ किया है। पार्षदान - जीव-अजीव के स्वाङ्ग को देखनेवाले गणधर आदि महापुरुष। जीव-अजीव-विवेक पुष्कल दशा - जीव-अजीव के भेद को देखनेवाली.. आहाहा! अति उज्ज्वल निर्दोष दृष्टि के द्वारा। आहाहा!

भगवान चैतन्यस्वरूप, वह ज्ञान और आनन्दस्वरूप है-ऐसा बतलाता हुआ और रागादि-शरीरादि अजीव स्वरूप है - ऐसा ज्ञान बतलाता हुआ.. भेद देखनेवाली अति उज्ज्वल निर्दोष दृष्टि के द्वारा.. जहाँ चैतन्यस्वभाव की दृष्टि हुई, उज्ज्वल दृष्टि हुई, निर्मल हुई, आहाहा! निजनिधान को देखने की जो दृष्टि, वह उज्ज्वल है। आहाहा! निर्दोष दृष्टि के द्वारा 'प्रत्यायत' भिन्न द्रव्य की प्रतीति उत्पन्न कर रहा है.. जहाँ वह ज्ञान अन्दर से राग से भिन्न पड़कर (सम्यक्) हुआ, वह आत्मा को भिन्न द्रव्य की प्रतीति उत्पन्न कर रहा है। राग और शरीर से भगवान आत्मा भिन्न है - ऐसा वह ज्ञान बता रहा है। आहाहा!

आसंसार-निबद्ध बन्धन-विधि-ध्वंसात, यह संसार अर्थात् अनादि संसार ऐसा 'यह' है न? अनादि संसार से जिसका बन्धन दृढ़ बँधा हुआ है.. आहाहा! ऐसे ज्ञानावरणादि कर्म और भावकर्म.. ज्ञानावरणादि कर्मों के नाश से.. भावकर्म और द्रव्यकर्म के नाश से; आहाहा! भगवान आत्मा आठों ही कर्मों से रहित और आठों ही कर्मों के निमित्त

से होनेवाले भावों से भी रहित (है)। - ऐसे शुद्धस्वभाव को प्रगट करता हुआ ज्ञान, आनन्दसहित प्रगट होता है। भले यहाँ नीचे हो, परन्तु वह आठ कर्मों और भाव से भिन्न ही है। आहाहा! जिसका ज्ञायकस्वभाव, आनन्दस्वभाव, द्रव्यस्वभाव, वह तो आठ कर्मों से और कर्मों के निमित्त के भावकभाव से अभी भिन्न है। आठ कर्म रहित हो जाए, तब सिद्ध होता है, यह तो फिर पर्याय की बात है। आहाहा!

आठों ही कर्मों का अजीवपना, इस जीवद्रव्य के स्वभाव में उसका अभाव है। वह आठों कर्मों से भिन्न भगवान और उनके निमित्त से होनेवाले विपरीत भावों से भिन्न (है)। आहाहा! उनका नाश करता हुआ.. विधि अर्थात् कर्म। निबद्ध बन्धन विधि ध्वंसात् - ये आठ कर्म और उनके निमित्त से होनेवाले विकारीभाव। द्रव्यकर्म, नोकर्म और भावकर्म सब। आहाहा! उनके नाश से विशुद्ध हुआ है। ज्ञान अर्थात् आत्मा। आहाहा! आठों ही कर्म अजीव हैं, उनसे भिन्न; भावकर्म विकृत है, उससे भिन्न - ऐसा भान करके, उनका नाश करता हुआ.. आहाहा! है न? ध्वंसात्... ध्वंसात् ध्वंस करके। आहाहा! हो जाए, परन्तु शैली तो ऐसी ही होती है न! स्वभाव-सन्मुख होता है तो विकार और कर्म दोनों भिन्न पड़ जाते हैं, उसे 'नाश करता है' - ऐसा कहा जाता है। आहाहा!

स्फुटम्-स्फुट हुआ है - जैसे फूल की कली खिलती है; उसी प्रकार विकासरूप है। आहाहा! जैसे कली खिलती है, जैसे लाख पंखुडी का गुलाब खिल उठे; वैसे भगवान अनन्त गुण के गुलाब जल से पर्याय में खिल निकला है - अनन्त गुणों का विकास हो गया है। आहाहा! सम्यग्दर्शन में भी अनन्त गुणों का विकास पर्याय में हो गया है। आहाहा! 'सर्व गुणांश वह समकित' - ऐसा कहा है न? स्फुटम् - स्फुट होता हुआ, प्रगट होता हुआ ऐसा। जो शक्तिरूप से है। भगवान (आत्मा) आनन्द और ज्ञान आदि की शक्तिस्वभाव के सामर्थ्यरूप है, वह पर्याय में प्रगट हुआ। आहाहा!

और कैसा है? आत्म-आरामम्-उसका रमण करने का क्रीड़ापन आत्मा ही है -ज्ञान का। आहाहा! कहते हैं कि जो भगवान आत्मा, राग और अजीव से जहाँ भिन्न पड़ा प्रभु, तो अनन्त गुण हैं, वे सब आंशिक खिल निकले हैं और वह आत्माराम, वह आत्मा में आराम पाता है। आहाहा! है?

रमण करने का क्रीड़ावन आत्मा ही है, जिसमें अनन्त ज्ञेयों के आकार आकर झलकते हैं। समझाते हैं, झलकें, वे कहाँ यहाँ झलकते हैं? परन्तु यहाँ अनन्त ज्ञेयों का ज्ञान होता है, वह अपने स्वभाव की सामर्थ्य से होता है, तो भी स्वयं अपने स्वरूप में ही रमता है। यह अनन्त ज्ञेयों का ज्ञान यहाँ होता है; वह स्वयं ज्ञेयों में नहीं जाता; अपने क्षेत्र में और अपने भाव में वह स्वयं रमता है। अनन्त ज्ञेयों को जानने पर भी स्वयं अपने ज्ञान में रमता है। आहाहा!

जहाँ ज्ञानस्वरूप भगवान (आत्मा), पर से भिन्न पड़कर खिल निकला, तब अनन्त ज्ञेय जो हैं, (उन्हें) अपना माना था, वह छूट गया। अब रहा, वह है, उनका यहाँ ज्ञान होता है, वे मेरे हैं – ऐसी मान्यता छूट गयी, तब उनका – उस सम्बन्धी का ज्ञान स्वयं का स्वयं में से खिलता है। आहाहा!

सब श्लोक, गाथा और टीका गजब की बातें हैं! अन्दर कितनी गम्भीरता भरी है! वे सब ज्ञेय जानने में आवें तो भी स्वयं अपने स्वरूप में रमता है। आहाहा! जिसका अनन्तधाम, आत्माराम 'अनन्तधाम' जिसका प्रकाश अनन्त है; धाम अर्थात् प्रकाश, अनन्त है.. अनन्त.. अनन्त.. अनन्त.. अनन्त.. प्रकाश है। आहाहा!

अध्यक्षेण-प्रत्यक्ष तेज से वह नित्य उदयरूप है। भगवान ज्ञानस्वरूप जहाँ प्रगट हुआ तो नित्य प्रगटरूप ही रहता है। आहाहा! केवलज्ञान हुआ या सम्यग्ज्ञान हुआ, वह सदा प्रगट ही रहता है। आहाहा! धीर है, अचंचल है, चंचल नहीं। उच्च है और अनाकुल है.. आहाहा! इच्छाओं से रहित निराकुल है। धीर, उदात्त, अनाकुल = यह तीन विशेषण शान्तरूप नृत्य के आभूषण जानना.. परिणमन की शोभा जानना - यह आत्मा के परिणमन की तीन शोभा। आहाहा! ऐसा ज्ञान विलास करता है। लो! ऐसा भगवान आत्मा, ज्ञान की विलास की क्रीड़ा में रमता है, उसे आत्मा कहते हैं।

विशेष कहेंगे।

(श्रोता : प्रमाण वचन गुरुदेव!)